ISSN 0973-8541, HUMANITIES AND DEVELOPMENT, VOL.18, NO.2, JULY-DEC,2023 /165

महाभारत में धर्म की त्रिवर्ग में महत्ता

नीलम पाण्डेय,
शोध–छात्रा–संस्कृत
सन्तगणिनाथ राजकीय महाविद्यालय,मऊ

भारतीय संस्कृति के सांस्कृतिक तत्वों में एक है आश्रम व्यवस्था। हिन्दु सामाजिक संगठन के अन्तर्गत आश्रम व्यवस्था की परिकल्पना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय मनीषियों का मानव जीवन के प्रति एक सर्वांगीण दृष्टिकोण था। वर्णधर्म की भांति आश्रम धर्म की भारतीय संस्कृति की प्रमुख देन है। अपनी आवश्यकताओं के अनुसार निरन्तर विकास करते हुए अपने जीवन को सार्थक बनाने की अभिलाषा भी मनुष्य में सदा रही है। मानव की सभी प्रकार की इच्छाओं और जिज्ञासाओं का संकलन करके प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन के चार प्रयोजनों का निर्धारण किया–धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन्हें चार पुरूषार्थो का नाम दिया। भारतीय धर्मशास्त्र में मानव जीवन के ये चार पुरूषार्थ वर्णित हैं। इस पुरूषार्थ चतुष्टय के सिद्धान्त की संरचना भारत के ऋषियों, मुनियों और विद्वतजनों ने मानव जीवन के आध्यात्मिक और व्यावहारिक पक्ष को दृष्टि में रखकर की थी। ''पुरूषार्थ'' शब्द का अर्थ है–मनुष्य के जीवन का प्रयोजन तथा उस प्रयोजन की सिद्धि के लिये उद्योग। मनुष्य का मुख्य प्रयोजन है–सुखी जीवन। मनुष्य का जीवन तभी सुखी हो सकता है, जब उसकी आवश्यकतएं, इच्छाएं और लक्ष्य पूरे हो सकें। इन आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा लक्ष्यों को ध्याम में रखकर ही पुरूषार्थो की संख्या चार मानी गई है। इन पुरूषार्थो की सिद्धि मनुष्य ही कर सकता है और ये उसके जीवन के प्रमुख अभिलक्षित तत्व है।

महाभारत स्वयं में ज्ञान की संपूर्णता से पूरित है, जिसके कारण यहा कहा जाता है कि यह धर्मशास्त्र होने के साथ ही साथ अर्थशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र भी है। जिस प्रकार यह धार्मिक विषयों का शब्दकोष है, उसी प्रकार यह अर्थ, काम एवं मोक्ष सम्बन्धी तथ्यों का भण्डार है। अतः अन्य पुरूषार्थो के साथ अर्थ का क्या सम्बन्ध है, इसका विचार करना–तात्कालिक समाज की संस्कृति के अन्तर्गत ही आता है। मोक्ष जीवन का अन्तिम ध्येय है, ऐसा कहना उपयुक्त तो नहीं है, क्योंकि यह केवल उच्च कोटि के मनुष्यों को प्राप्त हो सकता है। अतः यह साधारण मनुष्यों के लिए मानना युक्ति संड्गत प्रतीत नहीं होता है। संभवतः महाभारतकार को भी ऐसा ही अनुभव हुआ होगा, तभी उन्होंने पुरूषार्थ से मोक्ष को अलग कर–धर्म, अर्थ एवं काम को ''त्रिवर्ग'' नाम दिया। कामन्दक को उपदेश देते हुए भीष्म कहते हैं कि आसक्ति और फलेच्छा को त्यागकर त्रिवर्ग का सेवन किया जाए तो उसका पर्यवसान कल्याण मय ही होगा। यदि मनुष्य उसे प्राप्त कर सके तो बड़े सौभाग्य की बात है। अर्थसिद्धि के लिये समझ बूझकर धर्मानुष्ठान करने पर भी कभी अर्थ की सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है। इसी ''त्रिवर्ग'' के विषय में कहा गया है कि बुद्धिमान पुरूष त्रिवर्ग को लक्ष्यमानकर कर्म करें, परन्तु यदि तीनों की प्राप्ति नहीं होती तो वे धर्म एवं अर्थ के लिए प्रयत्नशील रहें और यदि उन्हें एक को ग्रहण करना पड़े तो केवल धर्म को ग्रहण करें। मध्यम वर्गीयजन काम एवं धर्म की अपेक्षा अर्थ का श्रेष्ठ मानते हैं तथा मूर्ख केवल काम को ही चरम लक्ष्य मानते हैं। कहने का आशय यह है कि विद्वान एवं बुद्धिमान पुरूषों का प्रत्येक काम धर्म, अर्थ एवं काम की सिद्धि के अनुकूल ही होता है। यदि तीनों की सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान मानव धर्म एवं अर्थ का ही अनुसरण करते हैं। पृथक–पृथक स्थित हुए धर्म, अर्थ एवं काम में से किसी एक को चुनना हो तो भीर पुरूष धर्म का ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणी का मनुष्य कला के कारणभूत अर्थ को ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणी का अज्ञानी पुरूष काम को ही

पाना चाहता है। विद्वान धर्म को ही त्रिवर्ग की प्राप्ति का एक मात्र उपाय मानते हैं। अतः जो धर्म के द्वारा अर्थ और काम को पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नति की दिशा में आगे बढ़ जाता है, जैसे–सूखे तिनके में लगी हुई आग बढ़ जाती है।

महाभारत के शान्तिपर्व में त्रिवर्ग के बारे में कहा गया है कि संसार में जब मनुष्यों का चित्त शुद्ध होता है और वे धर्म पूर्वक किसी अर्थ की प्राप्ति का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल कारण तथा मर्कानुष्ठान वश धर्म, अर्थ और काम तीनों एक साथ मिले हुये प्रकट होते हैं। इनमें धर्म सदा ही अर्थ की प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, परन्तु इन तीनों का मूल कारण है संकल्प और संकल्प हे, विषय रूप। सम्पूर्ण विषय पूर्णतः इन्द्रियों के उपभोग में आने के लिए है। यही धर्म, अर्थ और काम का मूल है। धर्म से शरीर की रक्षा होती है, धर्म का उपार्जन करने के लिए ही अर्थ की आवश्यकता बताई जाती है तथा काम का फल है रति वे सभी रजोगुणमय हैं। यह धर्म आदि जिस प्रकार संनिकृष्ट अर्थात् अपना वास्तविक हित करने वाले हों उसी रूप में इनका सेवन करना चाहिए अर्थात् इनको कल्याण साधन बनाकर ही उनको उपयोग में लाना चाहिये। तप अर्थवा विचार के द्वारा ही उनसे अपने को मुक्त रखकर अर्थात् आसक्ति और फल का त्याग करके ही इन सब धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन करना चाहिए। यदि कोई मनुष्य धर्म के पथ का पथिक हो, किन्तु ध्यान फल की प्राप्ति पर हो तो उसे फल तो अवश्य मिलेगा पर उतना ही जितना का वह भागी है। इसी की पुष्टि में महाभारत के वन पर्व में कहा गया है कि स्वर्ग में सबसे बड़ा दोष यह जान पड़ता है कि कर्मो का भोग समाप्त हो जाने पर एक दिन वहां से पतन हो ही जाता है। कहने का आशय यह है कि अक्षय फल उसे कभी प्राप्त नहीं हो सकता। वन पर्व में ऋषि मुद्गल की कथा द्वारा इसी तथ्य को प्रतिपादित किया गया है कि अपने किए हुए सत्कर्मो का जो फल होता है, वही स्वर्ग में भोगा जाता है। वहां कोई नया कर्म नहीं किया जाता है। अपने पुण्यरूप मूल धन गवाने से ही वहां के भोग प्राप्त होते हैं। धर्म ही ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को देशाकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। धर्म ही परिवार, समाज और राष्ट्र को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। महाभारत के कर्ण पर्व में इसी की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि धर्म ही प्रजा को धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिए जो धारण–प्राण–रक्षा से युक्त हो–जिसमें किसी जीव की हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है।

महाभारत के उद्योग पर्व में कहा गया है कि 'वेद' धर्म के श्रोत हैं, 'स्मृतियाँ' धर्म का श्रोत हैं, 'सज्जनों का आचरण एवं मन संतुष्टि' भी धर्म का श्रोत हैं। अतः सदाचारियों का अनुसरण करते हुए ऐसे कार्य करना धर्म है, जिनसे नैतिक उन्नति के साथ–साथ आत्म संतुष्टि भी मिले। मानव के आचरण में जिन महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश होना चाहिए, उनको दृष्टि में रखकर हमारे प्राचीन विद्वानों ने[1] धर्म के बारे में बताया है कि धर्म सत्य, तप, इन्द्रिय संयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, दान, शास्त्र ज्ञान, धैर्य और क्षमा–यह बारह महाव्रत हैं। धर्म शब्द के अर्थ,–परिभाषा श्रोत लक्षण आदि को देखने से कहा जा सकता है कि जो कार्य और आचरण व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति करने में समर्थ हैं, वह धर्म है। इसके विपरीत अवनति की ओर अग्रसर करने वाला आचरण अधर्म है। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा है कि राजा को प्रजा का पालन ठीक से करना चाहिए। राज्य की उन्नति को दृष्टि में रखकर अपने अन्दर सद्गुणों का आधान करना भी राजा का धर्म है। इस लोक में प्रजावर्ग को प्रसन्न रखना ये राजाओं का सनातन धर्म है। सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कर्त्तव्य हैं।

अर्थ–भारतीय संस्कृति में भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का समान महत्व है। इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि भौतिक उन्नति की प्राप्ति के लिए अर्थ पुरूषार्थ का सेवन आवश्यक है, क्योंकि

व्यक्ति के सभी प्रयोजन अर्थ से सिद्ध होते हैं, इसलिए संसार के सभी लोग अर्थ की अभिलाषा रखते हैं। इसी प्रकार यदि अर्थ की प्राप्ति की जाए तो सह कदापि निन्दित नहीं है, किन्तु उसे सर्वोपरि पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है, यह एक व्यहारिक क्रिया ही है, आध्यात्मिक नहीं। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि बहुत से आस्तिक–नास्तिक, संयम–नियम परायण पुरूष हैं, जो अर्थ के इच्छुक होते हैं। अर्थ की प्रधानता को न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थ की प्रधानता का ज्ञान प्रकाषमय है। श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों (धर्म एवं काम) की भी सिद्धि हो जाती है। अर्जुन कहते हैं कि यह कर्म भूमि है। यहॉजीविका के साधन भूत कर्मो की प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भॉति–भॉति के शिल्प–यह सब अर्थ प्राप्ति के साधन हैं। इतना ही कहकर वह सन्तुष्ट नहीं होते हैं और कहते हैं कि धनवान पुरूष[2] धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन और अजितेन्द्रिय पुरूषों के लिए दुर्लभ कामनाओं की प्राप्ति कर सकता है।

जीवन के इसी व्यवहारिक पक्ष को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रतिपादित किया है, उनके अनुसार अर्थ इस जगत की सभी व्यापार की धुरी है जिसके परितः सम्पूर्ण जगत का कार्य व्यापार घुर्णित है। धर्म एवं अर्थ के अविरोधी काम का सेवन करना चाहिए, किसी को सुखहीन जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिए। अर्थ ही प्रधान है, अर्थ के आधार पर ही धर्म एवं काम अवलम्बित हैं। पुरूषार्थ चतुष्ट्य में ''अर्थ'' पुरूषार्थ का अभिप्राय मुख्य रूप से जीविकोपार्जन अथवा धनार्जन करना, ताकि व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ–साथ धर्म तथा काम पुरूषार्थो की सिद्धि भी कर सके। महाभारत के शान्ति पर्व में अर्जुन ने कहा है कि अर्थ ही समस्त कर्मो के मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म एवं काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुति का कथन है। उद्यम के अतिरिक्त अर्थ की प्राप्ति तथा सुरक्षा का दूसरा हेतु है–विनय। विनय का अर्थ है–शिष्टाचार, संयम। संयमी और विनीत व्यक्ति ही उचितरीति से धनार्जन कर सकता है। असंयमी व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की ही भॉति इस क्षेत्र में भी प्रमाद कर सकता है।

उद्यम और विनय के अतिरिक्त बुद्धि भी धनार्जन में परम सहायक है, क्यों कि बुद्धिमान व्यक्ति जब उद्यम और विनय सहित अपनी बुद्धि से धनार्जन करता है तो उसे धन भी मिलता है और मिला हुआ धन बढ़ता भी रहता है। आचार्य चाणक्य ने भूमि को सर्वश्रेष्ठ ''अर्थ'' माना है।[3] क्योंकि इसके अतिरिक्त सभी पदार्थो के उपार्जन का–आधार यही भूमि है, इसी में सब प्राणी निवास करते हैं। इसी में अन्न आदि का उपार्जन किया जाता है। महाभारत में शान्ति पर्व के अन्तर्गत राजधर्म अनुशासन पर्व में लक्ष्मी (राज्य, धन–दौलत) को पाने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को शिष्टाचारी बनने का सदुपदेश दिया है तथा साथ में यह भी कहा है कि यद्यपि कहीं–कहीं शीलहीन व्यक्ति भी राजलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते हैं और जड़–मूल सहित नष्ट हो जाते हैं। अन्न और वस्त्र की दृष्टि से ही कृषि को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। अतएवं 'अर्थ' तथा उसके उपार्जन के समस्त हेतु सांसारिक जीवन के लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं। लोक व्यवहार में तो अर्थ ही सब गुणों का हेतु बन जाता है, यदि कोई अतिशय गुणी व्यक्ति निर्धन हो जाता है तो लोग उसके पास आना छोड़ देते हैं, इतना ही नहीं परिवार में भी उसको यथोचित सम्मान नहीं मिलता और जो धनी होते हैं, उनके गुणहीन होने पर भी लोग उनके आगे पीछे धूमते रहते हैं। यही कारण है कि व्यक्ति धनोपार्जन करना चाहता है और निर्धनता से दूर भागता हैं। ''अर्थ'' सब को अपने वश में करता है। महाभारत में भीष्म पर्व में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि पुरूष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं यही सत्य है।[4] इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति के गुणों से कोई प्रभावित नहीं होता। उसके गुण, दोष माने जाते है। निर्धन व्यक्ति की बात कोई नहीं सुनता, यहां तक कि उसके परिवार के सदस्य और मित्र भी उसके प्रति तिरस्कार का भाव रखते है। फलस्वरूप वह एकाकी हो जाता है तथा उसका मनोबल गिर जाता है। चाणक्य ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि निर्धनता

अभिशाप है। धर्म शास्त्रियों के इन मतों का सुन्दर चित्रण कवि शूद्रक के मृच्छकटिकम् नामक रूपक में किया गया है। काव्य का नायक चारूदत्त धन के अभाव में अतिशय कष्ट का अनुभव करता है। अतएवं समाज से और देश से सामंजस्य रखने के लिये यह अनिवार्य है कि व्यक्ति अर्थोपार्जन करके अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाए। थोड़ा प्राप्त से ही सन्तुष्ट न हो जाए अपितु, धन प्राप्ति करता रहे।

इस बात की पुष्टि ऋग्वेद में की गई है तथा परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मा! आपसे भिन्न, दूसरा कोई उन, इन सब उत्पन्न हुए जड़–चेतन आदि को नहीं तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। जिस–जिस पदार्थ की कामना वाले हम लोग आपका आसरा लेवें और इच्छा करें, उस–उस की कामना हमारी सिद्ध होवें, जिससे हम लोग धन ऐश्वर्यो के स्वामी बनें। दुराचार से प्राप्त ''अर्थ'' का हमारे जीवन दर्शन में कोई स्थान नहीं है। इसलिए आचार्य मनु सर्वोत्तम शुद्धि अर्थसूचिता के बारे में कहते हैं कि जो धर्म से ही पदार्थो का संचय करता है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वहीं पवित्र है। राजा के लिये कोषराज्यसंचालन हेतु आवश्यक होता हैं उसके लिए भी प्रजा को त्रस्त करके वसूले गए ''करों'' तथा ''अर्थदण्डों'' से कोष भरने का निषेध है। महाभारत के शान्ति पर्व में राजधर्मानुशाषन पर्व के अन्तर्गत धर्मपूर्वक प्रजा के पालन का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो राजा आलस्य छोड़कर राग–द्वेष से रहित हो सदा पूजा की रक्षा करता है, निरन्तर धर्म एवं न्याय में तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजा वर्ग के सभी लोग अनुरक्त होते हैं।[5]

राजा को लोभ 'वश' अधर्म मार्ग से धन पाने की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो लोग शास्त्र के अनुसार नहीं चलते हैं, उनके धर्म और अर्थ दोनों ही अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं। शास्त्र से विपरीत चलने वाला राजा न तो धर्म की सिद्धि कर पाता है और न अर्थ की ही। यदि उसे धन मिल भी जाए तो वह सारा ही बुरे कामों में नष्ट हो जाता है। जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र विरूद्ध अधिक ''कर'' लेकर उसे कष्ट पहुंचाता है, वह अपने ही हाँथों अपना विनाश करता है। एक सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जैसे दूध चाहने वाला मनुष्य यदि गाय का थन काट ले तो उससे वह दूध नहीं पा सकता, उसी प्रकार राज्य में रहने वाली प्रजा का अनुचित उपाय (अधिक कर लेकर) से शोषण किया जाए तो उससे राष्ट्र की उन्नति नहीं होती है। अतः अर्थोपार्जन का प्रयोजन धर्म पुरूषार्थ की सिद्धि है न कि भोग–विलास। सांसारिक जीवन धन के बिना नहीं जिया जा सकता, इसलिये धन महत्वपूर्ण है, किन्तु धनार्जन धर्मपूर्वक ही होना चाहिए। धन के विषय में अत्यधिक लोभ या तृष्णा पापाचरण की प्रेरणा देती है, इसलिये इनसे बचना चाहिए।

महाभारत कार ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाकर कहा है कि जो धन धर्म से युक्त हो और जो धर्म धन से सम्पन्न हो, वह निश्चित रूप से मनुष्य मात्र के लिए अमृत के समान होगा। जो पुरूष धर्म युक्त अर्थ से वंचित हैं, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं। अतः मनुष्य अपने मन को संयम में रखकर जीवन में धर्म को प्रधानता देते हुए धर्माचरण कर के ही धन का साधन करें, क्योंकि धर्मपरायण पुरूष पर ही समस्त प्राणियों का विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं तब मनुष्य का सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थोपार्जन अत्यधिक आवश्यक है, परन्तु अर्थोपार्जन तभी पुरूषार्थ बन सकता है, जब उद्यम, विनय, बुद्धि, तप तथा धर्म से अर्थोपार्जन किया जाए। धनार्जन सदैव उचित मार्ग से ही करना चाहिए अनुचित मार्ग से नहीं। अतः चोरी कालाबाजारी, तस्करी, लूटमार, रिश्वत आदि अनुचित माध्यम से धनार्जन करना अर्थ पुरूषार्थ नहीं है, क्योंकि अर्थ पुरूषार्थ व्यक्ति को धर्म पुरूषार्थ की सिद्धि में सहायता प्रदान करता है।

काम–

त्रिवर्ग के तृतीय घटक काम को भी प्रधान मानने वाले की कोई कमी नहीं है। भारतीय मनीषियों ने ''काम'' को ही पुरूषार्थ माना है। वे धर्म एवं अर्थ के समान ही इसे पुरूषार्थ की सिद्धि और इसके सेवन को महत्वपूर्ण मानते हैं। मनुष्य की लोक यात्रा में जो स्थान धर्म और अर्थ का है, वही स्थान ''काम'' का भी है। ''काम'' शब्द ''काम्यते इति–कामः'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न मानसिक आनन्द का द्योतक है। ''काम'' शब्द इच्छा और कामना को भी कहा जाता है, मानव उन्हीं पदार्थो की इच्छा करता है, जो उसे मानसिक और शारीरिक आनन्द देते हैं। अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा विभिन्न पदार्थो की जो इच्छा मनुष्य करता है और इन सब पदार्थो को पाने के लिये जो उद्योग करता है, वही ''काम'' है। भीम इस तथ्य को सर्वाधिक मान्यता प्रदान करते हैं और कहते हैं कि बिना किसी कामना के कोई जीव भूतल पर कार्य नहीं करता। किसी कामना से प्रेरित होकर ऋषीगण तप करते हैं, फल–फूल पर जीवन निर्वाह करते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियों का संयम करते हैं। कामना से ही लोग वेदों और उपवेदों का स्वाध्याय करते तथा उसमें पारंगत विद्वान हो जाते हैं। कामना से ही श्राद्ध कर्म, यज्ञ, कर्म, दान और प्रतिग्रह में लोगों की प्रवृत्ति होती है।

महाभारतकार आगे कहता है कि व्यापारी, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देवसम्बन्धी कार्य करने वाले लोग भी कामना से ही अपने–अपने कर्मो में लगे रहते हैं। जैसे दही का सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार काम है। जैसे खली से श्रेष्ठ तेल है, तक्र से श्रेष्ठ धी है और वृक्ष के काष्ट से श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थसे श्रेष्ठ काम है।[6] जैसे–फूल से उसका मधुतुल्य रस श्रेष्ठ है, अतः वह धर्म और अर्थ रूप है। महाभारत में वन पर्व में कहा गया है कि स्त्री, माला, चन्दन आदि द्रव्यों के स्पर्श और स्वर्ण आदि धर्म के लाभ से जो प्रसन्नता होती है, उसके लिये जो चित्त में संकल्प उठता है, उसी का नाम, काम है। जैसे–फल उपभोग में आकर कृतार्थ हो जाता है, उससे दूसरा फूल प्राप्त नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार काष्ठ से भस्म बन सकता है, परन्तु उस भस्म से दूसरा कोई–पदार्थ नहीं बन सकता। इसी तरह बुद्धिमान् पुरूष एक काम से किसी दूसरे काम की सिद्धि नहीं मानते, क्योंकि वह साधन नहीं, फल ही है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि की अपने विषयों में प्रवृत्त होने के समय जो प्रीति होती है, वही काम है। वह कर्मो का उत्तम फल है। अगले श्लोक में इसकी व्याख्या करते हुए महाभारतकार कहता है कि धर्म, अर्थ और काम तीनों को पृथक–पृथक समझ कर मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल काम के ही सेवन में तत्पर न रहे। उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करें, जिससे इनमें विरोध न हो। आगे महाभारतकार कहते हैं कि उचितकाल का ज्ञान रखने वाला विद्वान पुरूष धर्म, अर्थ और काम तीनों का यथावत विभाग करके उपयुक्त समय पर उनका सेवन करें। वात्स्यायन का मानना है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की अपने मन के संकल्प के अनुसार अपने–अपने विषयों के प्रति सुखानुभूति के कारण जो प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्ति को काम कहते हैं। महाभारत में भीष्म पर्व के अन्तर्गत श्रीमद् भगवद् गीतायाम् अध्याय छः में भगवान् श्री कृष्ण ने दुःख विनाशक योग की सिद्धि, उचित आहार–विहार, कर्मो के प्रति यथा–योग्य चेष्टा के साथ काम पुरूषार्थ की उपादेयता को स्वीकार करते हुए कहा है कि दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का, कर्मो में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाला का ही सिद्ध होता है।[7] काम सांसारिक पुरूषों को ही नहीं, योगी बनने के इच्छुक तथा तपस्वियों को भी अपने–अपने लक्ष्य तक पहुॅचने के लिए अनिवार्य रूप से सहायता करता है, परन्तु उसका सेवन उचित रीति से होना चाहिए। इसका सेवन केवल इन्द्रिय तृप्ति न होकर तत्व ज्ञान के लिए होना चाहिए। इन्द्रिय तुष्टि से सम्बन्धित ''काम'' रजोगुण युक्त है तथा तत्व ज्ञान हेतु किया गया ''काम'' सात्विक है। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसलिए

इसका सेवन धर्म पूर्वक करना चाहिए। महाभारत में धर्म और अर्थ के विरूद्ध काम का सेवन बुद्धिनाश का कारण माना गया है। शान्तिपर्व में राजधर्म अनुशासन पर्व के अन्तर्गत कहा गया है कि जो धर्म और अर्थ का परित्याग करके केवल काम का ही सेवन करता है, उन दोनों के त्याग से उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। व्यक्ति को चाहिए कि वह अतिरिक्त ''काम'' का त्याग कर दे। वह इस सम्बन्ध में संकल्प व इच्छा करना ही छोड़ दे तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। महाभारतकार कहता है कि हे काम! मैं तेरी जड़ को जानता हूँ, निश्चय ही तू संकल्प से उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जाएगी।

शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा उपदेश दिया गया कि जो राजा काम और क्रोध का आश्रय लेकर धन पैदा करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्म को पाता है और न ही धन उसके हाथ लगता है। अतः लोभी और मूर्ख मनुष्यों को अर्थ के साधन में नहीं लगाना चाहिए, आगे भीष्म कहते हैं कि लोभी और मूर्ख मनुष्यों को काम और अर्थ के साधन में नहीं लगाना चाहिए। जो लोभ रहित और बुद्धिमान हों, उन्हीं को समस्त कार्यो में नियुक्त करना चाहिए। पुनः अगले श्लोक में यह शिक्षा दी गई कि जो मनुष्य कार्य साधन में कुशल नहीं हैं और काम के वश में पड़ा हुआ है, ऐसे मूर्ख मनुष्य को यदि अर्थ संग्रह का अधिकारी बना दिया जाए तो वह अनुचित उपाय से प्रजाओं को क्लेश पहुंचाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह सरल स्वभाव से सम्पन्न हों, धैर्य तथा बुद्धि के बल से सत्य को ग्रहण करें और काम–क्रोध का परित्याग कर दें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ''काम'' को पूरी तरह छोड़ना अथवा एक मात्र उसी को ग्रहण करना–ये दोनों मार्ग अनुचित हैं, इस दृष्टि से सुख प्राप्ति का अधिकार सब को है तथा सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार के काम का सेवन लोकयात्रा की दृष्टि से अनिवार्य है। इसकी धर्मानुकूल तथा अर्थानुकूल सिद्धि हो, तभी यह पुरूषार्थ का रूप धारण करके व्यक्ति के उत्थान में सहायक हो सकता है। सभी प्राणी कामना रखते हैं। उससे भिन्न कामना रहित प्रॉणी न कहीं है, न कभी था और न कभी भविष्य में होगा, अतः यह काम ही त्रिवर्ग का सार है। धर्म और अर्थ भी इसी में स्थित हैं। बिना किसी कामना के ब्राम्हण अच्छे अन्न का भोजन नहीं करता है और बिना कामना के कोई ब्राम्हणों को धन का दान नहीं करता है। जगत् के प्राणियों की जो नाना प्रकार की चेष्टा होती है, वह बिना कामना के नहीं होती। अतः महाभारत कार के अनुसार त्रिवर्ग में काम का ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है। अतः सबसे पहले धर्म का आचरण करना चाहिए, पुनः धर्म युक्त धन का संग्रह करना चाहिए इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का संग्रह करने से मनुष्य का मनोरथ सफल हो जाता है।

आचार्य मनु[1] के अनुसार इस संसार में कोई धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं, कोई काम और अर्थ को और कोई धर्म को ही तथा कोई अर्थ को ही श्रेय कहते हैं। अतः धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का वर्ग (त्रिवर्ग) ही इस संसार में श्रेयस्कर है, यही वास्तविक सिद्धान्त् है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च, अमात्सर्यं हीत्रस्तितिक्षानसूया।
   दानंश्रुतं चैव धृतिः क्षमा च, महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।।
   महाभारत–उद्योगपर्व–45 / 5
2. विषयैरर्थवान्, धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
   कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः।।
   महाभारत–शान्तिपर्व–167 / 13
3. मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।
   अर्थशास्त्र–कौटिल्य–15 / 1

4. अर्थस्य पुरूषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोडऽम्यर्थेन कौरवैः।।
महाभारत–भीष्मपर्व–43/41
5. गेपायितारं दाताएं धर्मनित्यमतन्द्रितम्।
अकामद्वेष संयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–71/12
6. नवनीतं यथा दह्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैचं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामों धर्मार्थयोर्वरः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–167/35
7. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावषोधस्य योगो भवति दुःखहाः।।
महाभारत–भीष्मपर्व–30/17
8.श्रीमदभागवद्गीता–6/17, गीता प्रेस गोरखपुर